# आनन्द कुमारस्वामी : भारतीय चिति की गवेषणा

**बृजेन्द्र पाण्डेय**
अध्येता
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
शिमला

**अध्याय-संरचना**

1. भारतीय चिति : अभिलक्षण और स्वरूप
2. भारतीय पुनर्जागरण और भारतीय चिति
3. भारतीय पुनर्जागरण और आधुनिकता
4. भारतीय विचार-व्योम में आनन्द कुमारस्वामी
5. आनन्द कुमारस्वामी : तत्त्व-बोध
6. आनन्द कुमारस्वामी की कला-दृष्टि
7. आनन्द कुमारस्वामी : समाजार्थिक और राजनीतिक विचार
8. समालोचना

आधुनिकता की तुलना में दुनिया की प्रत्येक परम्परा में स्वरूपात्मक सहधर्मिता है। यह तथ्य भारतवर्ष पर भी लागू होता है। भारतवर्ष की भौगोलिक परिस्थिति, इसकी नातिशीतोष्ण जलवायु, घने छायादार वनों का आधिक्य, अनेक प्रकार का प्राकृतिक सौन्दर्य, यहाँ की नदी-मातृक और देव-मातृक उर्वरा भूमि, कंद-मूल एवं फल-फूलों तथा सुस्वादु खाद्य पदार्थों का स्वल्प ही परिश्रम से पर्याप्त मात्रा में मिल जाना आदि भारतवर्ष की विशेष परिस्थिति ने यहाँ के रहने वालों को अनादि काल से शान्त और गंभीर बना रखा है। इन्हीं कारणों से ये लोग अपनी समस्त मानसिक शक्तियों को जीवन तथा विश्व की गहन और उलझी हुई समस्याओं को, मृत्यु के रहस्य को, जीवात्मा के तथ्य को, दैवी शक्ति को तथा आध्यात्मिक तत्त्वों को समझने और अज्ञानियों को समझाने में लगा सके।

वस्तुतः, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति सनातन परम्परा का लोक-विग्रह है। एकता मूलक वैविध्य इसके स्वभाव में है। इसीलिए इसमें एकरूपता या एकरसता का भाव अस्वाभाविक, अप्राकृतिक एवं कृत्रिम माना जाता रहा है। भारतीय वाङ्मय की व्याख्या या विश्लेषण के लिए कम से कम नौ प्रकार के दर्शनों यथा पूर्व-मीमांसा, सांख्य, वैशैषिक, न्याय, योग एवं वेदान्त जैसे वैदिक; बौद्ध एवं जैन जैसे श्रमणिक तथा लोकायत जैसे प्राकृतिक अनुभववादी की सहायता ली जाती रही है। मनुष्य, प्रकृति एवं ब्रह्माण्डीय शक्ति के लीलात्मक सम्बन्धों के शिवत्व, सत्य एवं सौन्दर्य की थाह पाने के लिए नौ प्रकार के भाव या रस (शांत, करुण, वात्सल्य, श्रृंगार, वीर, रौद्र, अद्‌भुत, हास्य तथा वीभत्स) की अवधारणा विकसित की गई है। प्रकृति एवं संस्कृति के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों के विभिन्न सोपानों को ऋतु-चक्र परिवर्तन (वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत, शिशिर) की अवधारणा द्वारा अभिव्यक्ति दी गई है। मनुष्य के अन्तर्निहित स्वभाव को समझने के लिए चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की अवधारणा विद्यमान है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति सहजता से हो सके इसके लिए चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) की व्यवस्था की गई है। चार आश्रमों के अन्तर्गत सोलह संस्कारों (गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, कर्णभेद, विद्यारंभ, उपनयन, वेदारंभ, केशान्त, समावर्तन, विवाह तथा अंत्येष्टि) की विधि विकसित की गई। जो लोग वैकल्पिक माध्यम से जीवन जीना चाहते हैं उनके लिए श्रमण एवं प्राकृतिक अनुभववादी मार्ग सुलभ रहे हैं। तीनों मार्गों से वैवाहिक जीवन शुरु किया जा सकता है, अतः आठ प्रकार के विवाहों (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गंधर्व, राक्षस तथा पिशाच) का वर्गीकरण है। विवाह का मूल उद्देश्य

सृजन या सन्तानोत्पत्ति है जिससे पितृऋण से मुक्त हो सकें। यहाँ मनुष्य स्वतन्त्र नहीं जन्म लेता, वरन् तीन ऋणों (देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण) से ऋणमुक्त होने में ही उसके जीवन की साधना और सार्थकता है। भारतीय संस्कृति के केन्द्र में सूर्य है। प्रकाश-पुञ्ज सूर्य की किरणों में सात रंगों (बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी व लाल) का समुच्चय है। इन विविधताओं के बीच समाज-व्यवस्था की कम से कम चार समानान्तर पद्धतियाँ फलती-फूलती रही हैं- सम्प्रदायों एवं पंथों की धार्मिक पद्धति, जातियों की सामाजिक पद्धति, कुटुम्बों की नातेदारी पद्धति तथा राज्यों की राजनैतिक पद्धति। ये चारों व्यवस्थाएँ एक-दूसरे की पूरक रही हैं। इनके अधिकार एवं कर्तव्य की सीमाएँ संस्थाबद्ध रही हैं।

भारतीय सभ्यता में एकात्मता की तुलना में तादात्म्यता पर अधिक जोर रहा है। भूतकाल के वैभव की स्मृति के महत्व को स्वीकारने के बावजूद वर्तमान में आस्था रखकर भविष्य केन्द्रित पुरुषार्थ करने पर ज्यादा बल दिया गया है। सनातन जीवन-दृष्टि एवं धर्म में सतत अध्ययन, मनन, चिन्तन, अभ्यास, अनुभूति, साधना, भक्ति एवं यज्ञ का महत्व वर्तमान में आस्था का अकाट्य प्रमाण है। इस सभ्यता में विचारधारा के तार्किक आग्रह की तुलना में आस्था एवं आस्तिकता का महत्व अधिक रहा है। किसी एक लक्ष्य के लिए विविध धारणा करने वाले सम्प्रदायों, जातियों, समूहों में एकरूपता स्थापित करने के स्थान पर एक-दूसरे के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकारते हुए, एक-दूसरे की समस्याओं को समझते हुए, सभ्यता-मूलक एक-सूत्रता को संवर्धित करने की ओर अधिक प्रयत्न किया गया है।

दूसरे शब्दों में, भारतीय समाज में विचारधारा एवं तार्किकता की तुलना में आत्मान्वेषण, अपरोक्ष अनुभूति, आचार-विचार की एकता तथा व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में संगतिपूर्ण आचरण को अधिक महत्व दिया गया है। यहाँ सृजन की पात्रता प्राप्त करने के लिए मुक्ति की अपरोक्ष अनुभूति आवश्यक मानी गई है और इस प्रकार की मुक्ति के लिए विविध मार्ग, पंथ, सम्प्रदाय, दर्शन-प्रणाली तथा कलाओं की साधना को आवश्यक माना गया है। यहाँ विकास, उत्सव, समृद्धि, भोग एवं साधना के लिए किसी एक मत या सम्प्रदाय के आग्रह को कभी नहीं स्वीकारा गया। अतः प्राचीन काल से ही शास्त्र और लोक दोनों स्तरों पर विविधता को पारम्परिक प्रोत्साहन मिलता रहा है और युगानुकूल तदात्म्य भी बना रहा है। इस तादात्म्यता या समन्वय का कोई अखिल भारतीय एकरूप प्रतिरूप न कभी रहा है और न ही आवश्यक माना गया है; क्योंकि जैसा आनन्द कुमारस्वामी ने कहा है, भारतीय परम्परा में अनेक संरचनाओं के पीछे दृष्टिकोण, तत्त्वज्ञान एवं उद्देश्य लगभग समानधर्मी (होमोलोगस) रहा है। भारतीय संस्कृति में इस तादात्म्य का मुख्य प्रयोजन एक मुख्य अर्थ को अंगीभूत बनाने में तथा अन्य छोटे लक्ष्यों को उसके सापेक्ष बनाने के अर्थ में निहित है। परम्परा की इस एक-सूत्रता को बनाए रखने का भाव सहज रूप में भारत में व्याप्त रहा है।

यही कारण हो सकते हैं जिनसे भारतीयों का प्रत्येक कार्य अलौकिक तथा आध्यात्मिक भावों से परिपूर्ण है। मनुष्य के जीवन के नियमानुकूल कार्य तथा दर्शन-शास्त्रों में सिद्धान्त-रूप में कहे गए आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तत्त्व परस्पर इस प्रकार ओत-प्रोत हैं कि एक-दूसरे से उन्हें कभी पृथक नहीं किया जा सकता। इन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। जीवन का सादापन, उच्च विचार के प्रति अनुराग, अन्तःकरण की प्रशान्त भावना, सत्यप्रियता, संसार को पारमार्थिक दृष्टि से निःसार समझना, दैवी शक्ति में श्रद्धा, भक्ति और आत्मसमर्पण, जीवन की उलझनों को सुधारने में तत्परता, परमलक्ष्य तथा आनन्द की प्राप्ति के लिए पूर्ण उत्सुकता और अदम्य उत्साह, आदि गुण सामान्य रूप से प्रत्येक भारतीय के विभिन्न कार्यों में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से पाये जाते हैं। जीवन के झंझावातों में भी सत्य और असत्य, श्रेयस् और प्रेयस्, निःश्रेयस और अभ्युदय, प्रिय और अप्रिय, चेतन और जड़, सुख और दुःख, आदि तत्त्वों के रहस्य को समझने के लिए सृष्टि के आरम्भ से ही भारतीय अपने जीवन की समस्त शक्तियों को लगाते चले आ रहे हैं। इसके प्रभाव से भारतवर्ष की पुण्य-भूमि में अनादि काल से ही आध्यात्मिक चिन्तन की, दर्शन की, विचार-धारा बहती चली आ रही है, इसके लिए वेद से लेकर आज तक के सभी साहित्य साक्षी हैं।

पं. विद्यानिवास मिश्र के अनुसार, भारतीय सनातन परम्परा के विशिष्ट अभिलक्षणों में एक यह भी है कि यह वाक्केन्द्रित परम्परा है। वाक्केन्द्रित कहने का तात्पर्य केवल यह नहीं है कि यह मुख्यतः वाचिक है; अंशतः यह बात सही है कि पीढ़ी दर पीढ़ी माता-पिता से संतान को या गुरु से शिष्य को सौंपी जाने वाली थाती परम्परा कहलाती है, पर यह सौंपना और यह ग्रहण करना निर्जीव व्यापार नहीं है, सौंपने वाले को सौंपने की क्षमता प्राप्त करनी होती है, ग्रहण करने वाले को ग्रहण करने की। ऐसा करने के लिए एक विशेष प्रकार की निःस्पृहता, एक विशेष प्रकार का तप दोनों के लिए समान रूप से अपेक्षित है। यही यहाँ का लोक-परिष्कार है जिसमें केवल वाक्य नहीं सौंपे जाते, वाक्यार्थ को ग्रहण करने वाला ध्यान-योग और समर्पण-भाव भी सौंपा जाता है। भारतीय परम्परा में नियम, विधि और भाव का महत्व इनकी प्रस्तुति के माध्यम में ही निहित है। भारतीय परम्परा को वाक्केन्द्रित कहने के पीछे एक दूसरा अर्थ

भी है। भारत में संस्थाबद्धता को नयूनतम महत्व मिला है, चाहे वह संस्था धर्म-संस्था हो, राज्य-संस्था हो, अथवा समाज-संस्था हो। स्वामी करपात्रीजी के अनुसार किसी भी धर्माचार्य या किसी भी शासक या किसी भी समुदाय-नायक का महत्व बस इतनी ही दूर तक है कि वह परम्परा की स्मृति को सुरक्षित रखने में कितना तत्पर है। अन्तिम प्रमाण यहाँ वाक् है, तपःपूत सर्वमय हुए द्रष्टा की वाणी। दूसरे शब्दों में इसे ही मंत्र कहा गया है जो बाह्याभ्यन्तर सम्पूर्ण सत्ता का बौद्धिक अमूर्तीकरण है। यह अमूर्तन ही भारतीय परम्परा में शक्ति के केन्द्रीकरण को अनवरत रोकता रहा है और संस्थाओं के अनाचारों का प्रतिरोध करने की शक्ति देता रहा है। इसी के कारण इस परम्परा में एक लचीलापन बना रहता है और जड़ता नहीं आने पाती। वेद, पुराण, आगम, अवदान, चरित, मंगल, पद आदि संस्कृत व लोक-वाङ्मय की नाना प्रकार की अभिव्यक्यिों के माध्यम से तथा समस्त वाक्-परम्परा के अनुभवपरक समाकलन के द्वारा इस परम्परा की गतिशीलता बनी रहती है। साथ ही उस परम्परा के वाहक इसके प्रवाह में आत्मसात् होते रहते हैं, उनका कोई निजी इतिहास नहीं बनता। इसीलिए यहाँ पाणिनि का अर्थ होता है- पाणिनीय भाषा-चिन्तन-परम्परा, व्यास का अर्थ होता है- वेदार्थ के उप-बृंहण की ओर लोक में उसके प्रसरण की लम्बी परम्परा, शंकराचार्य का अर्थ होता है- शंकराचार्य की श्रृंखला, देश के चारों कोनों में अद्वैत-भाव की साधना के जागरूक प्रहरियों की श्रृंखला, गुरु नानक का अर्थ हो जाता है- गुरु-परम्परा, तुलसी का अर्थ हो जाता है- रामलीला की, रामकथा की अनवच्छिन्न धारा। व्यक्ति के रूप में इन सबका कोई महत्व नहीं रह जाता। ऐतिहासिकता के आधुनिक आग्रह ने इन सबके व्यक्तिगत जीवन को अलग देखने की कोशिश शुरू की, पर उनकी खोजों से कुछ सूचनात्मक ज्ञान की वृद्धि भले हुई हो, परम्परा की सक्रियता को समझने में इन खोजों से कोई विशेष सहायता नहीं मिली है, कभी-कभी तो इन खोजों ने बुद्धि-विभ्रम भी पैदा किया है। आधुनिक इतिहासकार यह भूल जाते हैं कि भारतीय परम्परा में इतिहास अनन्त की लोकयात्रा है। इसीलिए यहाँ शास्त्रविधि जानने वाले व्यक्ति को लोकविधि का भी ध्यान रखना पड़ता है। यह विधि इतनी समावेशक और इतनी संश्लिष्ट है कि इसे ठीक-ठीक परिभाषित करना संभव नहीं है। इसका आदि-स्रोत ढूँढ़ना इसीलिए बड़ा कठिन है। बहुत से लोकाचार, लोकानुष्ठान और उनके अंगभूत लोकगीत और लोकाख्यान कहीं-कहीं तो वैदिक मन्त्रों की गूँज जान पड़ते हैं, कहीं-कहीं बहुत से तान्त्रिक अनुष्ठानों की प्रतिध्वनि वहाँ मिलती है। कौन पहले है, कौन बाद में- यह निर्णय करना कठिन है, परन्तु इस निर्णय की अपेक्षा ही नहीं रखती परम्परा; परम्परा तो संश्लिष्ट है, वह जिस बिन्दु पर है, उस बिन्दु पर सम्पूर्ण है, उसमें कितना प्रतिशत वैदिक है, कितना तांत्रिक, कितना जनजातीय, यह विश्लेषण अनावश्यक है। इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए विद्यानिवासजी कहते हैं कि भारतीय सनातन परम्परा में जीवन की अखण्डता और निरन्तरता, देशकाल के प्रति सजग रहते हुए भी इसके अतिक्रमण के लिए प्रयत्नशीलता तथा शास्त्र का लोकापेक्षी और लोक का शास्त्र-भावित होना विद्यमान है।

भारतीय धर्म-परम्परा के उक्त स्वरूप का अवलोकन करने के पश्चात हम कह सकते हैं कि भारतीय धर्म का निरूपण आधुनिक पश्चिमी बुद्धि की ज्ञात परिभाषाओं में से किसी के भी द्वारा नहीं किया जा सकता। अपने समग्र रूप में यह समस्त आध्यात्मिक पूजा और अनुभूति का स्वतंत्र और सहिष्णु समन्वय रहा है। एकमेव सत्य को उसके विभिन्न पार्श्वों से देखते हुए इसने किसी भी पार्श्व के लिए अपने द्वार बंद नहीं किए। इसने न तो अपने को कोई विशेष नाम दिया और न अपने को किसी सीमाकारी पार्थक्य से आबद्ध ही किया। अपने अंगभूत मतों और विभागों के लिए पृथक् नामों को स्वीकार करता हुआ यह स्वयं अपनी चिरन्तन जिज्ञासा के विषय में ब्रह्म की तरह ही नाम-रूप-रहित, विश्वव्यापी और अनंत ही बना रहा। अपने परम्परागत शास्त्रों, पूजा-पद्धतियों और प्रतीकों के स्तर पर अन्य मत-विश्वासों से सुस्पष्टतया भिन्न होता हुआ भी यह अपने मूल स्वरूप में कोई मत-विश्वासात्मक धर्म बिलकुल नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक संस्कृति की एक विशाल, बहुमुखी, एकसूत्रतायुक्त, सदा अभ्युदयशील एवं आत्म-विस्तारशील प्रणाली है।

भारतीय विमर्श-जगत में 'भारत-बोध' का प्रश्न बार-बार उठना आत्म-विस्मरण के कुहासे से बाहर निकलने की बेचैनी के रूप में देखा जा सकता है। विचारणीय यह है कि 'भारत-बोध' का प्रश्न एक गंभीर और दीर्घजीवी महत्व का प्रश्न है। दीर्घकाल की भारतीय पराधीनता और ब्रिटिश उपनिवेशवाद के जटिल किन्तु अन्तरंग प्रभाव के कारण यह प्रश्न उत्पन्न हुआ है। यह कई दृष्टियों से विचारणीय प्रश्न है। 'भारत-बोध' का ही लोक-विग्रह भारतीय कला-दृष्टि भी है। इस प्रश्न पर विचार करने की प्रक्रिया के अर्न्तगत 'भारत-बोध' को क्षीण करने वाले तत्त्वों की पहचान तो करनी ही है, उनसे बाहर निकलने का उपाय भी सोचना ही है, किन्तु साथ में 'भारत-बोध' के स्थायी लक्षणों को इस दीर्घकालिक और सघन कुहासे के बीच से पहचानना और उनके प्रति स्वीकृति का भाव भी विकसित करना है। दूसरे शब्दों में, यह हमारे विस्मृत 'आत्म-बोध' अथवा 'चिति' की गवेषणा और उसकी पुनर्प्रतिष्ठा का महाअभियान है। इस महत् प्रयास में हमें इस केन्द्रीय प्रश्न के स्थायी और निर्णायक महत्व को क्षणमात्र के लिए भी दृष्टिपटल से ओझल नहीं होने

देना है। साथ ही इस प्रश्न पर विचार करने के लिए बड़ी सावधानी और सतर्कता की भी आवश्यकता है, क्योंकि न केवल राजनीतिक भावावेश में इस प्रश्न पर विचार नहीं हो सकता, वरन् समान-प्रकृति के प्रतीत होने वाले उन अनेक प्रयत्नों पर भी नजदीकी दृष्टि रखने की आवश्यकता है जो पुनर्जागरण-काल से ही भारतीय विचार-पटल पर अलग-अलग व्यक्तियों/संस्थाओं/आन्दोलनों के माध्यम से होते रहे हैं।

किसी सभ्यता में स्थायित्व और दीर्घजीविता के लिए उसके वैचारिक और भौतिक अधिष्ठानों की बहुआयामी और बहुस्तरीय व्याप्ति बहुत आवश्यक है। वैचारिक और भौतिक अधिष्ठानों की व्याप्ति और स्वीकृति तभी संभव है जब किसी सभ्यता के शास्त्रीय पक्ष की सम्यक् प्रतिष्ठा के साथ-साथ लोक-जीवन के साथ भी उसका स्वाभाविक तारतम्य बना रहे। विश्व की अन्यान्य सभ्यताओं की तुलना में भारतीय सभ्यता जागृत चिति और प्रकाशमान विराट् से युक्त आध्यात्मिक संस्कृति की एक विशाल, बहुमुखी, एकसूत्रता-युक्त, सदा अभ्युदयशील एवं आत्म-विस्तारशील प्रणाली है। भारतीय सभ्यता के निर्माण में विचार-तत्त्व, भौतिक समृद्धि, राज्य-व्यवस्था और शिल्प-श्रमिकों का प्राचुर्य सांगोपांग रूप से विद्यमान रहा है। भारतीय-जन सभ्यता-निर्माण के इन चारों कारकों के महत्व को स्वीकार करते रहे हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि विजातीय विचारों, दैन्य-दारिद्रय-युक्त अर्थ-रचना, संकीर्ण स्वार्थों पर आधारित राज्य-रचना और कुशल शिल्प-श्रमिकों की अनुपलब्धता के कारण किसी भी महान सभ्यता का अवपात निश्चित है।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का महत्व इस बात में निहित है कि दीर्घकाल की भारतीय पराधीनता और ब्रिटिश उपनिवेशवाद के जटिल किन्तु अंतरंग प्रभाव के कारण उत्पन्न हुए एक घने कुहासे के बीच से अपनी चिति और विराट् को जानने-पहचानने का एक अवसर इस दौरान हमें प्राप्त होता है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का चरित्र कई दृष्टियों से विचारणीय है। ध्यातव्य है कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य प्रेरणा भारतीय पुनर्जागरण अनेक विरोधाभाषों का पुंज रहा है। पुनर्स्मरण और आत्म-विस्मृति, आत्म-गौरव और आत्म-ग्लानि, दृष्टि-बोध और दृष्टि-विपर्यय, विवेक और संभ्रम, प्रतिबद्धता और भावनात्मकता तथा जागरण और सुसुप्ति- ये सभी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ इस पुनर्जागरण-काल में एक साथ दृश्यमान होती हैं। इसलिए इसका अन्तिम प्रभाव एक दुविधा को जन्म देता है। इस आत्म-चिति या हम भारतीयों के लिए अपने आत्म-बोध के अन्वेषण का कार्य इसलिए भी जटिल है क्योंकि इस पर छाया कुहासा केवल भारतीय परिस्थितियों की ही उपज नहीं है, वरन् इसकी पृष्ठभूमि में 'आधुनिकता' का वह घटाटोप अंधकार है, जिसने न केवल यूरोप को ही अपने स्वर्णिम अतीत से विमुख किया, वरन् यूरोपीय उपनिवेशवाद के माध्यम से भारतवर्ष को भी दिग्भ्रमित किया।

मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्धों का कोई परा-नियामक आधुनिकता स्वीकार नहीं करती, इसलिए उसकी तथाकथित अच्छाईयों के पीछे भी मनुष्य के लोभ व अहंकार का परिदृश्य स्पष्टतः दिखायी देता है और इससे उपजी विसंगतियों का कोई अन्तिम निदान ज्ञान-मीमांसात्मक रूप से आधुनिकता के अन्दर असम्भव हो जाता है। आधुनिक सभ्यता पश्चिम के आधिपत्य को विश्वव्यापी बनाने के लिए अनेक तरीके अपनाती है। आधुनिक समाज-विज्ञान भी उसके इसी अभियान का एक अंग मात्र है। सभी गैर-पश्चिमी संस्कृतियों और सभ्यताओं को निर्मूल करके ही आधुनिक सभ्यता अपना सार्वभौमिक वर्चस्व कायम रख सकती है। उनकी दृष्टि में आधुनिक सभ्यता मानव-समाज में भोगवादिता, ऐहिकता, स्वार्थपरता, शोषण एवं हिंसा की प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती है, और मनुष्य की चित्तवृत्ति को उर्ध्वगामी बनाने के स्थान पर अधोगामी बनाती है।

इसके विपरीत सभी पारम्परिक सभ्यताओं के अन्तर्गत मनुष्य के चित्त में उर्ध्वगामिता के बीज को प्रस्फुटित एवं पल्लवित करना जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य माना जाता है। इसलिए सभी सनातन परम्पराएं अध्यात्म-विद्या या आत्म-विद्या को सर्वोच्च विद्या मानती हैं। बौद्धिक जगत से जब तक आधुनिक मिथ्या दृष्टियों का आवरण हट नहीं जाता, तब तक मनुष्य और उसके समाज को कल्याण व अभ्युदय के मार्ग में ले जाने वाली शास्त्रीय विद्याओं का सम्मान नहीं हो सकता। वास्तव में लौकिक शास्त्रों का सम्यक् आधार वह सार्वभौम व सनातन विद्या ही हो सकती है जो सांकेतिक परम्परा (Symbolic Tradition) के रूप में देशगत तथा कालगत भिन्नताओं के अनुरूप विविध कलेवरों में मानव-समाज में सर्वत्र विद्यमान रही है।

*****